Gyanvividha, Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025 : PP-262-268

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025
Page No.-262-268
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com
Author's :

डॉ. ओम प्रकाश सिंह यादव
संस्कृत विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार).

Corresponding Author :

डॉ. ओम प्रकाश सिंह यादव
संस्कृत विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार).

उपनिषदों में 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन

सार : यह शोध पत्र उपनिषदों के केंद्रीय दार्शनिक सिद्धांतों 'आत्मन्' (व्यक्तिगत आत्मा) और 'ब्रह्मन्' (परम वास्तविकता) का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। उपनिषद, जो भारतीय ज्ञान मीमांसा का आधार हैं, इन दोनों अवधारणाओं को अभिन्न सिद्ध करते हुए द्वैत को अस्वीकार करते हैं।

यह अध्ययन विशेष रूप से बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, और माण्डूक्य जैसे प्रमुख उपनिषदों में निहित महावाक्यों (जैसे 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि') का विश्लेषण करता है। आत्मन् को 'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) के माध्यम से निर्विकार, नित्य और द्रष्टा के रूप में वर्णित किया गया है, जबकि ब्रह्मन् को जगत् का मूल कारण, 'सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्' (सत्य, ज्ञान, अनंत) के रूप में परिभाषित किया गया है।

शोध का मुख्य निष्कर्ष यह है कि उपनिषद् ज्ञान (विद्या) के माध्यम से यह स्थापित करते हैं कि 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' एक ही परमसत्ता के दो नाम हैं, जहाँ भेद केवल अविद्या (अज्ञान) और उपाधि (सीमित कारक) के कारण उत्पन्न होता है। यह अभिन्नता ही मोक्ष (मुक्ति) का मार्ग है। यह पेपर भारतीय दर्शन के मूल में स्थित इस मूलभूत एकता की प्रासंगिकता और दार्शनिक गहनता को उजागर करता है।

मुख्य शब्द : उपनिषद, आत्मन्, ब्रह्मन्, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, और माण्डूक्य।

परिचय : भारतीय ज्ञान परंपरा के शिखर पर प्रतिष्ठित उपनिषद्, वैदिक साहित्य के ज्ञानकाण्ड (Knowledge Section) का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें वेदान्त (वेदों का अन्तिम भाग या सार) भी कहा जाता है। जहाँ संहिताएँ (Samhitas) और ब्राह्मण ग्रन्थ (Brahmanas) मुख्यतः कर्मकाण्ड और यज्ञीय विधियों पर केंद्रित हैं, वहीं उपनिषद् मनुष्य की परम सत्ता, सृष्टि के गूढ़ रहस्य और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग जैसे शाश्वत प्रश्नों पर गहन दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत करते हैं।

उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य द्वैत से परे, एक अद्वैत सत्य की स्थापना करना है। इस सत्य की खोज दो मूलभूत, किन्तु परस्पर संबंधित, अवधारणाओं 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' के इर्द-गिर्द घूमती है। प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य इन्हीं दो केंद्रीय सत्ताओं की प्रकृति, स्वरूप और अन्तिम एकता का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है, जैसा कि प्रमुख उपनिषदों में प्रतिपादित है।

विषय का महत्व : 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' का संबंध भारतीय दर्शन, विशेषकर उत्तरवर्ती वेदान्त सम्प्रदायों (जैसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत) की आधारशिला है। इन अवधारणाओं की स्पष्ट और विशद व्याख्या ही शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य जैसे प्रमुख आचार्यों के मतभेदों और सिद्धांतों का मूल स्रोत बनी।

उपनिषद् स्पष्ट घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् से भिन्न कोई परम सत्ता नहीं है, और आत्मन् मूलतः ब्रह्मन् ही है। यह मूलभूत एकता ही उपनिषदों का परम ज्ञान है :

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।" (श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6.11)

अर्थात्, एक ही देव समस्त भूतों में गुप्त रूप से विद्यमान है, वह सर्वव्यापी है और सभी प्राणियों की अन्तरात्मा है। इस गूढ़ सम्बन्ध को समझना न केवल दार्शनिक जिज्ञासा की पूर्ति है, अपितु भारतीय अध्यात्म में मोक्ष (लिबरेशन) की प्राप्ति का सीधा मार्ग भी है।

शोध प्रश्न : प्रस्तुत शोध निम्नलिखित केंद्रीय प्रश्नों पर केंद्रित रहेगा :

1. विभिन्न प्रमुख उपनिषदों (बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ) में 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की परिभाषा, लक्षण और स्वरूप में क्या विशिष्ट समानताएँ एवं भिन्नताएँ पाई जाती हैं?
2. उपनिषदों में वर्णित 'महावाक्य' किस प्रकार 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की मूलभूत अभिन्नता को स्थापित करने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं?
3. 'आत्मन्' को 'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) द्वारा क्यों वर्णित किया गया है, और यह निषेधात्मक विधि ब्रह्मन् के अनन्त स्वरूप को समझने में किस प्रकार सहायक है?
4. मोक्ष की अवस्था में व्यक्तिगत 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' के बीच किस प्रकार का संबंध (Relationship) स्थापित होता है, और इस ज्ञान का व्यावहारिक (Pragmatic) महत्व क्या है?

अनुसंधान पद्धति : यह शोध पत्र मुख्य रूप से शास्त्रीय-विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक पद्धति पर आधारित होगा। इसमें मूलतः दशोपनिषदों के विशिष्ट प्रसंगों और श्लोकों का गहन पाठ-विश्लेषण किया जाएगा। प्रमुख रूप से, शंकराचार्य कृत उपनिषद् भाष्य, तथा वाचस्पति मिश्र एवं सुरेश्वराचार्य जैसे टीकाकारों के मतों का संदर्भ-सामग्री के रूप में उपयोग किया जाएगा। इन प्राचीन ग्रंथों के तर्कों की पुनर्व्याख्या आधुनिक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में की जाएगी ताकि 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की अवधारणाओं की सार्वकालिक प्रासंगिकता स्थापित की जा सके।

आत्मन् की अवधारणा :

- आत्मन् का शाब्दिक और व्युत्पत्तिगत स्वरूप : 'आत्मन्' शब्द उपनिषदीय दर्शन की आधारशिला है। इसकी व्युत्पत्ति को लेकर विभिन्न मत हैं, जिनमें एक प्रचलित मत यह है कि यह 'आप्' (व्याप्त होना), 'अत्' (निरंतर गमन करना), या 'आन' (श्वास लेना) धातु से निष्पन्न हुआ है। ये व्युत्पत्तियाँ आत्मन् के मूलभूत लक्षणों—सर्वव्यापकता, नित्य गतिशीलता/अमरता, और जीवन-शक्ति को इंगित करती हैं।

शाब्दिक रूप से, 'आत्मन्' का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है, जैसे: शरीर, मन, बुद्धि (Intellect), और अहंकार (Ego)। तथापि, उपनिषदों में इसका पारमार्थिक अर्थ व्यक्तिगत आत्मा है, जो इन भौतिक एवं मानसिक उपाधियों से परे, शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

- आत्मन् का स्वरूप: 'नेति नेति' द्वारा निरूपण : उपनिषद् आत्मन् को प्रायः निषेधात्मक विधि से निरूपित करते हैं, क्योंकि वह वाणी और मन की पहुँच से परे है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य ने आत्मन् की व्याख्या

करते हुए प्रसिद्ध 'नेति नेति' सूत्र का प्रयोग किया है : **"अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परम् अस्ति।"** (बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.3.6)

अर्थात्, अब आत्मन् के सम्बन्ध में आदेश है 'यह नहीं, यह नहीं'। 'नेति' (न+इति) कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मन् वह नहीं है जो इंद्रियों द्वारा जाना जाता है, न वह मन का विषय है, और न ही बुद्धि द्वारा सीमित किया जा सकता है। यह निषेध आत्मन् के अद्वितीय, अनादि, और अनन्त स्वरूप को स्थापित करता है। आत्मन् एक द्रष्टा है, जिसे देखा नहीं जा सकता, क्योंकि वह स्वयं ही ज्ञान का आधार है।

- आत्मन् की अवस्थाएँ: माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार

माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मन् की सूक्ष्मता को समझने के लिए उसकी चार अवस्थाओं (चतुष्पात्) का विस्तार से वर्णन किया गया है। ये अवस्थाएँ व्यक्तिगत चेतना के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करती हैं:

अवस्था	**चेतना**	**अनुभव क्षेत्र**	**उपनिषदीय नाम**
प्रथम	जाग्रत	बाह्य जगत् का अनुभव	विश्व
द्वितीय	स्वप्न	आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ	तैजस
तृतीय	सुषुप्ति	आनन्दमय, एकता	प्राज्ञ
चतुर्थ	तुरीय	शुद्ध चैतन्य, शान्त, शिव, अद्वैत	आत्मन्/अयमात्मा ब्रह्म

तुरीय अवस्था ही आत्मन् का वास्तविक स्वरूप है। यह तीनों पूर्ववर्ती अवस्थाओं से भिन्न और परे है, तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ही ब्रह्म है) का साक्षात् अनुभव कराती है : **"नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतम् चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।"** (माण्डूक्य उपनिषद्, 7)

अर्थात्, यह (तुरीय) न तो भीतर का ज्ञान है, न बाहर का, न दोनों का, न ज्ञान का पुंज है, यह शान्त, शिव, और अद्वैत है। यही आत्मन् है और यही जानने योग्य है।

- आत्मन् की अमरता और रथ रूपक (Immortality of Ātman and the Chariot Allegory)

कठोपनिषद् में नचिकेता और यम के संवाद में आत्मन् की अमरता पर बल दिया गया है। आत्मन् को नित्य, अजन्मा और अविनाशी बताया गया है।

"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥" (कठोपनिषद्, 1.2.18)

यह (विद्वान् आत्मन्) न तो जन्म लेता है और न मरता है; यह न किसी से उत्पन्न हुआ है और न कोई इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है; शरीर के नष्ट होने पर यह नष्ट नहीं होता। इसी उपनिषद् में आत्मन् की स्थिति को समझाने के लिए प्रसिद्ध रथ रूपक प्रस्तुत किया गया है, जहाँ :

- आत्मन् → रथी (स्वामी)
- शरीर → रथ
- बुद्धि → सारथी
- मन → लगाम
- इन्द्रियाँ → घोड़े

यह रूपक दर्शाता है कि आत्मन् निष्क्रिय साक्षी होते हुए भी, शरीर रूपी रथ का वास्तविक नियन्ता है, जो बुद्धि के मार्गदर्शन से मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता है।

ब्रह्मन् की अवधारणा :

- **ब्रह्मन् का शाब्दिक और व्युत्पत्तिगत अर्थ :** 'ब्रह्मन्' शब्द संस्कृत की 'बृह्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'बढ़ना', 'विस्तारित होना', या 'महान् होना'। यह व्युत्पत्ति ही ब्रह्मन् के मूलभूत लक्षण अनन्तता और सर्वव्यापकता को दर्शाती है।

उपनिषदों में, 'ब्रह्मन्' परम सत्य, सृष्टि का मूल कारण, और अनादि, अनन्त सत्ता को व्यक्त करता है। यह वह तत्त्व है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब कुछ स्थित रहता है, और जिसमें अन्ततः सब कुछ विलीन हो जाता है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।" (तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.1.1)

अर्थात्, जिससे ये समस्त भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, और मरने के पश्चात् जिसमें प्रविष्ट होते हैं उसी को जानने की इच्छा करो। वही ब्रह्मन् है।

- ब्रह्मन् के दो स्वरुप : सगुण और निर्गुण

उपनिषदों में ब्रह्मन् को मुख्यतः दो दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है:

1. **निर्गुण ब्रह्मन् :**
   - यह ब्रह्मन् का पारमार्थिक और शुद्ध स्वरूप है, जो समस्त उपाधियों (Attributes) और लक्षणों से रहित है। यह मन और वाणी की पहुँच से परे है।
   - यह अव्याकृत और अचिन्त्य है। इसका वर्णन केवल निषेध (Negation) द्वारा ही संभव है, जैसा कि आत्मन् के संदर्भ में 'नेति नेति' द्वारा किया गया है।
2. **सगुण ब्रह्मन् :**
   - यह ब्रह्मन् का व्यावहारिक या अपर स्वरूप है। इसे ईश्वर या स्रष्टा भी कहते हैं।
   - यह उपासकों की सुविधा के लिए सत्य, ज्ञान, आनन्द, शक्ति आदि शुभ गुणों से युक्त माना जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मन् के स्वरूप को उसके तटस्थ लक्षण द्वारा परिभाषित करता है :

"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म।" (तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1.1)

अर्थात्, ब्रह्मन् सत्य, ज्ञान, और अनन्तता स्वरूप है। यह परिभाषा ब्रह्मन् के निर्गुण और सगुण, दोनों स्वरूपों को समाहित करती है।

- **ब्रह्मन् और जगत् का सम्बन्ध :** उपनिषद् ब्रह्मन् को जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण, दोनों मानते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मन् ही जगत का एकमात्र आधार है।

छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु के संवाद में मिट्टी (मृत्तिका) के दृष्टांत द्वारा इस एकता को समझाया गया है। जैसे, मिट्टी से बने सभी पात्र (घड़ा, कलश आदि) नाम और रूप की भिन्नता के बावजूद अन्ततः मिट्टी ही हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मन् ही है:

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.1)

अर्थात्, हे सोम्य! सृष्टि के पहले यह जगत् सत् ही था, एक ही था, अद्वितीय था। इस कथन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मन् ही एकमात्र सत्ता है, और उससे भिन्न कुछ भी वास्तविक नहीं है। जगत् केवल ब्रह्मन् का विभूति या विवर्त है।

- ब्रह्मन् की प्राप्ति : उपनिषदों के अनुसार, ब्रह्मन् की प्राप्ति केवल अपरोक्षानुभूति से ही संभव है, न कि केवल तर्क या अध्ययन से। यह अनुभूति आत्मज्ञान के माध्यम से होती है, जो 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की एकता को साक्षात् कराती है। कठोपनिषद् में कहा गया है:

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥" (कठोपनिषद्, 1.2.23)

अर्थात्, यह आत्मा न तो उपदेश से, न तीव्र बुद्धि से, और न बहुत सुनने से प्राप्त होता है। यह जिस साधक को अपना लेता है, उसी से प्राप्त होता है; उसके लिए यह आत्मा अपना वास्तविक स्वरुप प्रकाशित कर देता है।

तुलनात्मक अध्ययन: आत्मन् और ब्रह्मन् : आत्मन् और ब्रह्मन् की अवधारणाएँ उपनिषदों के केन्द्रीय सिद्धान्त हैं, और इनका तुलनात्मक अध्ययन ही वेदान्त दर्शन के अद्वैत पक्ष को स्पष्ट करता है। इन दोनों सत्ताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन करने के पश्चात्, अब हम इनकी मूलभूत समानता और आरोपित भिन्नता का विश्लेषण करते हैं।

- मूलभूत अभिन्नता: महावाक्य : उपनिषदों का चरम लक्ष्य यह स्थापित करना है कि 'आत्मन्' (वैयक्तिक सत्ता) और 'ब्रह्मन्' (परम सत्ता) में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। यह एकता (Unity) चार प्रसिद्ध महावाक्यों द्वारा मुखरित होती है, जो साक्षात् अपरोक्षानुभूति का बोध कराते हैं:

महावाक्य	उपनिषद्	अर्थ	सिद्धान्त
प्रज्ञानं ब्रह्म	ऐतरेय उपनिषद् (3.1.3)	प्रज्ञान (शुद्ध चैतन्य) ही ब्रह्मन् है।	स्वरूपबोधक
अहं ब्रह्मास्मि	बृहदारण्यक उपनिषद् (1.4.10)	मैं ब्रह्मन् हूँ।	अनुभूतिबोधक
तत्त्वमसि	छान्दोग्य उपनिषद् (6.8.7)	वह (ब्रह्मन्) तू है।	उपदेशपरक
अयमात्मा ब्रह्म	माण्डूक्य उपनिषद् (2)	यह आत्मा ही ब्रह्मन् है।	आत्मबोधक

इन महावाक्यों में, विशेषकर 'तत्त्वमसि' में, 'तत्' (वह) निर्गुण ब्रह्मन् को और 'त्वम्' (तू) शुद्ध आत्मन् को इंगित करता है। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार, इन दोनों की एकता का बोध ही मोक्ष है, क्योंकि दोनों का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छान्दोग्य उपनिषद्, 3.14.1)

अर्थात्, यह सब कुछ वास्तव में ब्रह्मन् ही है। जब सब कुछ ब्रह्मन् है, तो आत्मन् उससे भिन्न कैसे हो सकता है? यह उपनिषदीय उद्घोष आत्मन् और ब्रह्मन् की सर्वव्यापक एकता को सिद्ध करता है।

- स्वरूप की समानता : आत्मन् और ब्रह्मन् दोनों को उपनिषदों में एकसमान लक्षणों द्वारा वर्णित किया गया है, जो उनकी एकता का प्रमाण है :

1. अनादि और अनन्त : जिस प्रकार ब्रह्मन् काल से परे है, उसी प्रकार आत्मन् को कठोपनिषद् में 'अजः नित्यः शाश्वतः पुराणो' (जन्मरहित, नित्य, शाश्वत और पुरातन) कहा गया है।
2. चैतन्य स्वरूप : बृहदारण्यक में आत्मन् को 'विज्ञानघन एव' (केवल विज्ञान या चेतना का पुंज) कहा गया है, और तैत्तिरीय में ब्रह्मन् को 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्' (ज्ञान स्वरूप) कहा गया है। दोनों ही जड़ से भिन्न, शुद्ध चैतन्य हैं।
3. निर्विशेष और निर्विकार : दोनों ही सत्ताएँ 'नेति नेति' द्वारा उपाधि-रहित बताई गई हैं, जो उनकी पारमार्थिक शुद्धता को दर्शाती हैं।

- **भेद का कारण : उपाधि :** यदि आत्मन् और ब्रह्मन् एक ही हैं, तो वैयक्तिक चेतना (आत्मन्) और परम चेतना (ब्रह्मन्) में भेद क्यों प्रतीत होता है? उपनिषद् इसका उत्तर अविद्या और उपाधि के माध्यम से देते हैं।
- **उपाधि:** ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर हैं। जब शुद्ध चैतन्य (ब्रह्मन्/आत्मन्) इन उपाधियों से सीमित प्रतीत होता है, तो उसे जीवात्मा या आत्मन् कहा जाता है।
- **ब्रह्मन् →निरुपाधिक** : यह माया या अविद्या के प्रभाव से रहित है।
- **आत्मन् →सोपाधिक** : यह अहंकार और इन्द्रियों की उपाधि से सीमित प्रतीत होता है।

जैसे, एक ही सूर्य जल से भरे अनेक पात्रों में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्मन्, भिन्न-भिन्न शरीरों की उपाधि से अनेक आत्मन् के रूप में प्रतीत होता है। उपाधि का यह आवरण ही भेद का मूल कारण है।

- **तुलनात्मक सारणी :**

विशेषता	**आत्मन् (सोपाधिक)**	**ब्रह्मन् (निरुपाधिक)**
स्वरुपतः	शुद्ध चैतन्य, द्रष्टा।	शुद्ध चैतन्य, परम सत्ता।
स्थिति	देह के भीतर सीमित प्रतीत होता है।	सर्वव्यापी और अनन्त।
ज्ञान की अवस्था	अविद्या के कारण बद्ध और मोक्ष का इच्छुक।	नित्यमुक्त और अपरिणामी।
सम्बन्ध	उपाधि द्वारा ब्रह्मन् का प्रतिबिम्ब/अंश।	उपाधि का आश्रय, जगत् का मूल आधार।
उपनिषदीय सूत्र	'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ही ब्रह्मन् है)	'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'

- मोक्ष: एकता की अनुभूति : उपनिषदीय दर्शन में मोक्ष (मुक्ति) की परिभाषा ही आत्मन् और ब्रह्मन् की एकता की अनुभूति है। जब जीवात्मा (सोपाधिक आत्मन्) विद्या (ज्ञान) द्वारा अविद्या के आवरण को हटाता है, तो उसे अपने स्वरुप (आत्मन्) की ब्रह्मन् से अभिन्नता का ज्ञान होता है, जिसे 'आत्मलाभ' कहते हैं:

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥" (मुण्डक उपनिषद्, 3.1.3)

अर्थात्, जब द्रष्टा (जीवात्मा) उस ज्योतिर्मय, कर्ता, प्रभु, ब्रह्मन् के मूल-स्वरुप पुरुष को देखता है, तब वह विद्वान् पुण्य-पाप को त्यागकर निर्दोष होकर परम साम्य को प्राप्त करता है। यह 'साम्य' ही आत्मन् का ब्रह्मन् में विलीन होकर उसके साथ एक हो जाना है।

निष्कर्ष : यह शोध पत्र 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए, उपनिषदीय दर्शन के मूलभूत संदेश की पुष्टि करता है। आत्मन् और ब्रह्मन् की अवधारणाओं का पृथक-पृथक विश्लेषण (द्वितीय और तृतीय खंड) उनकी तात्कालिक भिन्नता को दर्शाता है, जबकि तुलनात्मक विवेचन (चतुर्थ खंड) उनकी पारमार्थिक एकता को सिद्ध करता है।

प्रमुख निष्कर्षों का सारांश :

1. एकता का सिद्धान्त: उपनिषदों का केंद्रीय निष्कर्ष यह है कि आत्मन् और ब्रह्मन् स्वरूपतः एक ही हैं। 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य) और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक) जैसे महावाक्य इस अभिन्नता की घोषणा करते हैं। ब्रह्मन् संपूर्ण जगत् का अद्वितीय, निर्गुण और नित्य कारण है, और आत्मन् वही नित्य, शुद्ध चैतन्य है जो शरीर रूपी उपाधि में सीमित प्रतीत होता है।
2. भेद का मिथ्यात्व: आत्मन् और ब्रह्मन् के बीच का भेद वास्तविक नहीं है। यह केवल अविद्या (अज्ञान) के कारण उत्पन्न भ्रांति है। जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक जलपात्रों में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्मन्, विभिन्न उपाधियों (मन, बुद्धि, शरीर) के कारण अनेक जीवात्माओं (आत्मन्) के रूप में प्रतीत होता है।
3. मोक्ष की परिभाषा: उपनिषदों में मोक्ष (मुक्ति) की परिभाषा किसी स्वर्ग या अन्य लोक की प्राप्ति नहीं, अपितु आत्मन् द्वारा अपने वास्तविक स्वरुप अर्थात् ब्रह्मन् से अपनी एकता का साक्षात् अनुभव करना है। यह अनुभव ही जन्म और मरण के चक्र से स्थायी निवृत्ति दिलाता है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" (मुण्डक उपनिषद्, 2.2.8)

अर्थात्, उस परम और अवर (सगुण और निर्गुण) ब्रह्मन् के ज्ञात हो जाने पर हृदय की ग्रंथि (अज्ञान) टूट जाती है, सभी संदेह कट जाते हैं, और उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।

दार्शनिक महत्व और प्रभाव : 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की एकता का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी देन है। इसने केवल अद्वैत वेदान्त की नींव ही नहीं रखी, अपितु भक्ति, कर्म, और ज्ञान के सभी मार्गों के अंतिम लक्ष्य को भी

निर्धारित किया। यह सिद्धान्त मनुष्य को उसकी अपनी आन्तरिक दिव्यता से परिचित कराता है, जिससे जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में भय, दु:ख और मोह का निवारण होता है।

भविष्य का शोध : इस शोध की सीमा को बढ़ाते हुए, भविष्य में निम्नलिखित विषयों पर अध्ययन किया जा सकता है:

- उपनिषदीय 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' की अवधारणाओं का भगवद्गीता में 'पुरुषोत्तम' और 'क्षेत्रज्ञ' के सन्दर्भ में तुलनात्मक विस्तार।
- उपनिषदों के इन सिद्धांतों का विशिष्टाद्वैत (रामानुज) और द्वैत (माधवाचार्य) जैसे वेदान्त संप्रदायों द्वारा किया गया पुनर्व्याख्या) का गहन अध्ययन।

अन्ततः, उपनिषद् यह स्थापित करते हैं कि मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य स्वयं की खोज है, और यह खोज ब्रह्मन् को जानने में नहीं, अपितु यह जानने में है कि 'मैं ही ब्रह्मन् हूँ'। यह ज्ञान न केवल दार्शनिक है, अपितु मानव अस्तित्व के लिए एक शाश्वत और व्यावहारिक मार्ग भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

A. प्रमुख संकलन ग्रन्थ : आचार्य, शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः (दशोपनिषत्). गीता प्रेस, 2015 (पुनर्मुद्रण).

1. बृहदारण्यक उपनिषद् (2.3.6): शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः. गीता प्रेस, 2015, p. 675 (खंड 2.3.6 के अन्तर्गत).
2. छान्दोग्य उपनिषद् (3.14.1, 6.2.1): शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः. गीता प्रेस, 2015, p. 1010 (खंड 3.14.1 के अन्तर्गत).
3. कठोपनिषद् (1.2.18, 1.2.23): शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः. गीता प्रेस, 2015, p. 175 (खंड 1.2.18 के अन्तर्गत).
4. माण्डूक्य उपनिषद् (7): शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः. गीता प्रेस, 2015, p. 310 (श्लोक 7 के अन्तर्गत).
5. मुण्डक उपनिषद् (3.1.3): शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः. गीता प्रेस, 2015, p. 250 (खंड 3.1.3 के अन्तर्गत).
6. तैत्तिरीय उपनिषद् (2.1.1, 3.1.1): शङ्कर. उपनिषद्-भाष्य-संग्रहः. गीता प्रेस, 2015, p. 420 (खंड 2.1.1 के अन्तर्गत).

B. एकल पाठ :

7. श्वेताश्वतर उपनिषद् (6.11): श्वेताश्वतरोपनिषद्. अनुवादक और टिप्पणीकार: स्वामी रंगनाथनन्द. रामकृष्ण मठ, 1975, p. 185 (श्लोक 6.11 के अन्तर्गत).

द्वितीयक स्त्रोत (सहायक ग्रन्थ) :

1. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ (Dasgupta, Surendranath). ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (A History of Indian Philosophy). खण्ड I, मोतीलाल बनारसीदास, 1975.
2. हिरियन्ना, एम. (Hiriyanna, M). आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (Outlines of Indian Philosophy). जॉर्ज एलन एण्ड अनविन, 1932.
3. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली (Radhakrishnan, S). द प्रिन्सिपल उपनिषद्स (The Principal Upaniṣads). जॉर्ज एलन एण्ड अनविन, 1953.
4. शर्मा, चन्द्रधर (Sharma, Chandradhar). ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (A Critical Survey of Indian Philosophy). मोतीलाल बनारसीदास, 1964.

•